Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2021 SHISRRJ | Volume 4 | Issue 1 | ISSN : 2581- 6306

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में विस्थापन की त्रासदी

प्रत्याशा मिश्र
शोधार्थी, हिंदी विभाग, का. सु. साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अयोध्या,उत्तर प्रदेश।
डॉ अनुराग मिश्र
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, का.सु. साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अयोध्या, उत्तर प्रदेश।

Article Info
Volume 4, Issue 1
Page Number : 242-247

Publication Issue :
January-February-2021

Article History
Accepted : 10 Jan 2021
Published : 30 Jan 2021

शोध-सारांश : भारत 1947 में गुलामी के चंगुल से मुक्त हुआ किंतु पुन: बंटवारे के अभिशाप से ग्रस्त हो गया। यह कालखंड की वह अभिशप्ति थी जिसने लाखों परिवारों को अपनी मातृभूमि एवं जड़ से विस्थापित होने के लिए मजबूर कर दिया। मोटे तौर पर पंजाब, सिंध,लाहौर,जम्मू -कश्मीर, बंगाल आदि क्षेत्रों में रहने वालों को इस अभिशाप ने अपनी माटी से उठाकर दूर देश में दर-दर भटकते रहने का दंश देकर उनकी आंतरिक क्षमताओं को कुंद कर दिया। इसके कारण उन्हें अपने घर- जमीन, संवैधानिक अधिकारों एवं अपनों से वियुक्त तो होना ही पड़ा साथ ही मनुष्य-मात्र को मिलने वाली मूलभूत सुविधाओं के अभाव में वंचित जीवन भी व्यतीत करना पड़ा।

विस्थापन को पूर्णता में समझने के लिए इसके विभिन्न पहलुओं पर गंभीरतापूर्वक अध्ययन करना बहुत आवश्यक है। विस्थापन अब एक अवधारणात्मक पद है जो अपने भीतर समय,समाज और परिवेश की अनेक अर्थच्छायाओं को समाहित करता है। शब्दों की संश्लिष्टात्मक समझ और उसकी अंतर-अनुशासनात्मक दृष्टि से ही विस्थापन-संबंधी अध्ययन को समग्रता में प्रस्तुत किया जा सकता है।

बीजशब्द - भूमंडलीकरण, वैश्वीकरण, उदारीकरण, पूंजीवाद, सामाजिक-मूल्य, मौलिक अधिकार, विस्थापन, पर्यावरण, निर्वासन आदि।

विस्थापन मानव के द्वारा बनाई गई वह क्रूर व्यवस्था है,जिसमें अपनी जमीन से जुड़े दर्द, बालमन के सुमुधुर क्षण, आपसी रिश्तों की मजबूत पकड़, पूजा-अर्चना, त्योहार, धर्म-विश्वास, खान-पान की महक और आत्मजनों के स्नेह भावों के अभाव का आभास होता है। विस्थापन ऐच्छिक और अनैच्छिक दोनों हो सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उभरी स्थितियों में भारत के सिंधी, पंजाबी, बंगाली या कश्मीरी पंडितों का विस्थापन सम्बन्धी प्रश्न हो या यह वैश्विक स्तर पर रोमानियाई जर्मनिओं का हो जो सोवियत संघ में निर्वासित कहलाए; निर्वासन का दर्द सभी के लिए एक जैसा है। अभी हाल ही में 2009 में साहित्य नोबेल पाने वाली 'हेरतामूलर' की पुस्तक और 'ऑटेशउकल' या उनकी प्रतिबंधित पुस्तक 'नींदरूगन' का जिक्र

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

यहाँ उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने निर्वासन के दर्द को बखूबी उभारा है। इसमें जर्मन के एक छोटे से गांव के अन्याय और दमन की कथा है। यह लेखिका उल्लेखनीय इसलिए है कि उन्होंने अपनी प्रथम कृति से ही निर्वासितों पर कलम चलायी है।

ऐतिहासिक कारणों से नए देशों की खोज में हुए देशांतरगमन, आर्थिक प्रगति के लिए किए गए प्रव्रजन और राजनीतिक संघर्षों से हुए पलायन विस्थापन के विविध पहलू हैं। सिर्फ राजनीतिक संघर्षों के कारण ही नहीं राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए प्रयुक्त आर्थिक उदार नीतियां व पूंजीवादी विकास के कारण भी दुनिया भर में विस्थापन के पीड़ाजन्य प्रभाव दिखाई दे रहे हैं। विस्थापन के दर्द को रचनाकारों ने विभाजन के बाद से बहुत शिद्दत से महसूस किया और उस पर कलम चलाई। विभाजन से जन्मे विस्थापितों के दर्द को उजागर करने वाले अनेक उपन्यासों एवं कहानियों की रचनाएं हुई हैं , जिसमें कुछ ने विशेष आयाम प्रस्तुत किए हैं, जैसे 'झूठा सच', 'आधा गांव', ' तमस', 'कितने पाकिस्तान', 'वाह कैंप ', 'कठपुतली 'आदि। विभाजन, निस्संदेह इतिहास की बहुत बड़ी त्रासदी है। हिंदी उपन्यासकारों ने इस त्रासदी के विभिन्न पक्षों को अभिव्यक्त कर विभाजन से उत्पन्न संकट के संवेदनात्मक तथा बौद्धिक पक्ष को सामने लाने की कोशिश की है। विभाजन-संबंधी उपन्यासों में ऊपर से निचली परतों तक धंसी हुई हाहाकार की तस्वीरें और अपरूप रंग-रेखाओं से दहला देने वाले सन्नाटों का स्वर बार-बार उभरता है। 15 अगस्त 1947 को भारत का विभाजन हो गया। यह घटना लाखों लोगों के स्थानांतरण की समस्या से जुड़कर और भी भयावह हो उठी। विस्थापन से निपटने के लिए किसी समुचित योजना और व्यवस्था के अभाव में लोग बुरी तरह से फँस गए। अगर जनसंख्या की अदला-बदली योजनाबद्ध रूप से हुई होती तो संभवत: विभाजन के बाद हुए रक्तपात को काफी हद तक रोका जा सकता था। व्यापक पैमाने पर हो रहे खून-खराबे और मानव-विरोधी कारनामों के बावजूद भी दोनों पक्षों में ऐसे लोग थे जो जानते थे कि भौगोलिक रूप से सीमाएं निर्धारित हो जाने से दिल नहीं बँट पाते। ऐसे संवेदनशील व्यक्तियों ने ही संस्कृति को पूरी तरह बचाए रखा। साहित्य और इतिहास, साहित्य और संस्कृति के अंतस्संबंधों पर सृजनात्मक लेखन की जो शुरुआत तब हुई वह आज भी जारी है।

गंगा-जमुनी तहजीब के लिए प्रसिद्ध भारतवर्ष में वर्षों से हिल -मिलकर साथ रहने वाले मनुष्यों को धर्म और राजनीति के गलत संदर्भ, किस तरह बाँट देते हैं ,किस तरह मानवता की लाश पर पाश्विकता अट्टहास करती है, यह यशपाल कृत 'झूठा सच' उपन्यास का केंद्रीय तथ्य है। इसमें पाकिस्तान बनने से उत्पन्न हिंदू- मुस्लिम वैमनस्य, दंगे एवं जन-निष्क्रमण से जुड़ी वहशीपन, बर्बादी और नारी-उत्पीड़न की कथा है। यह उपन्यास एक ऐसा दस्तावेज है जो सदियों तक आने वाली पीढ़ी को लाखों की लाशों पर खड़ी की गई पाकिस्तान की भव्य इमारत के दर्शन कराकर आंसू बहाने के लिए विवश करता है। भारतीय विभाजन की वेदना का औपन्यासिक महाकाव्य है 'झूठा सच'। लाखों की तादात में लोगों का अपने वतन से विस्थापित होकर पराए देश की ओर जाते वक्त घटित रक्त-रंजित, अमानवीय और क्रूर इतिहास उपन्यास के प्रथम खंड' वतन और देश ' का मुख्य कथ्य है। लाहौर के भोलापांधे की गली के एक हिंदू मध्यवर्गीय परिवार को केंद्र में रखकर इसके माध्यम से विभाजन का पूरा आख्यान प्रस्तुत हुआ है। झूठा सच उपन्यास के प्रथम भाग वतन और देश का अंत ट्रक ड्राइवर के इन मार्मिक शब्दों से होता है कि "रब्ब ने जिन्हें एक बनाया था रब्ब के बंदों ने अपने वहम और जुल्मों से उसे दो कर दिया।"[1]

द्रोणवीर कोहली कृत 'वाह कैंप' एक ऐसी औपन्यासिक कृति है जो बंटवारे से उत्पन्न कलंक के कोलाहल को तेजस्विता और निजता के साथ प्रस्तुत करती है। विस्थापन के दैत्य प्रहारों के मध्य एक भविष्यहीन जिंदगी जीने को अभिशप्त पीड़ितों की लथपथ जिंदगी का प्रतीकात्मक दस्तावेज है 'वाह कैंप'।

'वाह कैंप' उपन्यास के पात्र मनोहर अरोड़ा के अनुसार "नेताओं की जल्दबाजी की बदौलत इस देश का बंटवारा हुआ। नेता लोग आराम से कुर्सियां संभाल कर बैठे हैं और साधारण लोग जिन्होंने असली मायनों में आजादी की कीमत चुकाई है ,डर के माहौल में घर-बार छोड़कर रिफ्यूजी बने बैठे हैं।"[2]

कमलेश्वर ने अपने उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' में भारत विभाजन की समस्याओं को इस उम्मीद से प्रस्तुत किया कि भारत ही नहीं दुनिया भर में एक के बाद दूसरे पाकिस्तान बनने की लहू से लथपथ परंपरा अब बंद हो। पाकिस्तान यहां एक प्रतीक है। वह एक देश में सांप्रदायिक आधार पर बँटे मानवीय इतिहास की त्रासदगाथा का एक जीता-जागता उदाहरण है। जब लोग खून के समंदर पार करते हुए भारत से पाकिस्तान की ओर भाग रहे थे तब 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास के पात्र सलमा के मां-बाप पाकिस्तान से किसी देश की ओर नहीं अपनी मिट्टी भारत की ओर भाग रहे थे। सलमा के अब्बू कहते हैं कि "इस्लाम की नजर से पाकिस्तान का बनना ही गुनाह है क्योंकि इस्लाम नफरत नहीं सिखाता पर पाकिस्तान की बुनियाद नफरत पर रखी गई है।"[3]। मुगल शासक औरंगजेब के समय से भारत के मुसलमान मानसिक रूप से विस्थापित बन गए। इसी मानसिकता ने उन लोगों को अपने ही मुल्क में अजनबी बना दिया। वही मानसिक विस्थापन लगभग दो सदियों के बाद विभाजन का कारण बना।

विभाजन के बाद के बदलते समाज की कहानी कहता है मंजूर एहतेशाम का उपन्यास - 'सूखा बरगद'। 'सूखा बरगद' असल में स्वातंत्र्योत्तर भारत में विभाजन के परिणामस्वरूप आए सामुदायिक जीवन के बदलाव की कथा है। इसके केंद्र में भारतीय मुस्लिम समाज है जिसके अंतर्विरोध और द्वंद्व को उपन्यासकार ने बेहद मार्मिक ढंग से उकेरा है। एक मामूली आदमी जो विभाजन को कभी अपने मन में स्वीकार नहीं करता और धार्मिक कट्टरता से दूर उसके लिए पाकिस्तान एक अजनबी देश है लेकिन तब भी उसे सांप्रदायिक मनोवृत्ति के लोगों से जूझना पड़ रहा है।

विभाजन की सारहीनता को दर्शाता गुरुदत्त का उपन्यास 'दीन- दुनिया' , अब्दुल करीम के परिवार के कराची जाने एवं वहां की मुसीबतों और भारत लौटने की कथा का पूरा ब्यौरा देता है। इस पीड़ा को अधिक समझने के लिए मानव कौल की कहानी-संग्रह 'प्रेम कबूतर' की भूमिका महत्वपूर्ण है- "करीब 27 साल बाद मैं वापस बारामुला राजबाग गया था, जहां मेरा जन्म हुआ है और मेरा बचपन बीता है। वह कॉलोनी खंडहर हो चुकी थी। अपने घर का दरवाजा तोड़कर भीतर घुसना पड़ा। वह घर अंतिम सांसे लेता हुआ कोई जर्जर बूढ़ा था जो मर जाने के पहले किसी अपने का इंतजार कर रहा था। तभी मेरी निगाह उस छोटे छेद पर गई जहां मैं अपनी टॉफी छुपाया करता था। बहुत देर तक कॉलोनी में भटकता रहा। हर उस गली में गया, जहां हम खेला करते थे। कॉलोनी से निकलते वक्त एक औरत ने मुझसे पूछा कि कौन हो तुम? और यहां क्या कर रहे हो? मैंने उससे कहा कि वह जो गली का आखिरी मकान है, मैं वहां रहा करता था, मैं यहीं पैदा हुआ हूँ। वह औरत मुस्कुराने लगी और मुझे मेरे कहे पर कतई विश्वास नहीं हुआ। यह दोनों वाक्य इतने झूठे लग रहे थे कि मैं वहां से चल दिया। अभी अपनी कहानियों को पढ़ते हुए बिल्कुल कुछ इसी तरह का एहसास हुआ। मैं अपने भीतर अपनी हर कहानी

का होना पूरी शिद्दत से महसूस करता हूं पर उसे कहते ही सारा कुछ ढह जाता है। कहना कुछ होने की तुलना में बहुत छोटा सुनाई देता है।"[4] भूमिका की इन चंद पंक्तियों में विस्थापन की अकथनीय पीड़ा को लेखक ने निचोड़ डाला है और यह पंक्ति यथार्थ सत्य लगती है कि कहना 'होने' की तुलना में बहुत छोटा सुनाई देता है।

इसकी अगली कड़ी जुड़ती है विकास के नाम पर किए जाने वाले विस्थापन से। प्रश्न यह है कि विकास किसके लिए किया जा रहा है? मुट्ठी भर पूंजीपतियों के लिए या उस अंतिम आदमी के लिए जिसके पास न रुतबा है ,न ताकत है और न ही पूंजी का अथाह भंडार। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यह विकास किस कीमत पर किया जा रहा है? भूमंडलीकरण, वैश्वीकरण ,उदारीकरण आदि आधुनिक समय में एक ऐसे छलावे के रूप में हमारे समाज में, जीवन में प्रविष्ट हुए हैं कि हम अपनी जड़ों से ही उखड़ गए। इसने हमें हमारी जमीन, संबंध, गांव, संस्कृति सबसे विस्थापित कर दिया है। विकास के इन तमाम सवालों से वाबस्ता कराता है महुआ मांझी का उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ'। यह आदिवासियों के साथ व्यवस्था द्वारा किए जा रहे क्रूर मजाक का हलफनामा है। दूसरे शब्दों में कहें तो, यह आदिवासियों के विपर्यस्त समय की विपर्यस्त दास्तान है।

विकास के नाम पर विस्थापन-केंद्रित रचनाओं में जिस प्रामाणिकता और यथार्थ की मांग बराबर उठती रही है, उसकी पूर्ति पिछले दो दशकों में आए हिंदी उपन्यासों ने काफी हद तक की है। उजड़ते जंगलों और टूटते स्वप्नों के बीच उपजे आदिवासियों / पहाड़ी जनजातियों के प्रतिरोध के गूंजते स्वर इन उपन्यासों में सुने जा सकते हैं। यह उपन्यास इनके जीवन और अस्मिता के मूलभूत सवालों से टकराते हुए विमर्श का नया कैनवास तैयार करते हैं। जनजातीय समूहों की तमाम विविधताओं को समेटे हुए उनके जीवन से गुंथे हुए कई सूक्ष्मातिसूक्ष्म संदर्भों को संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया है वीरेंद्र जैन के उपन्यास 'डूब' में। राजघाट बांध परियोजना के अंतर्गत बिजली पैदा करने हेतु पानी एकत्र करने के लिए बनाए जाने वाले बांध की चपेट में बारी,टोढे, शंकरपुर, पंचमनगर, सिरसौदिया, सिद्धपुर ,केशवपुर आदि गांव 'डूब' क्षेत्र के अंतर्गत आ जाते हैं और सभी गांवों को खाली कराने का सरकार आदेश दे देती है। पहाड़-पठारों के मध्य बसे गांवों को उजाड़ कर वहां बिजली पैदा करने के लिए पानी एकत्र किए जाने की योजना बनती है जिससे मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश को निर्बाध बिजली की आपूर्ति की जा सके। उन पहाड़ों और पठारों से दीवार का काम लिया जाएगा जिन पर ग्रामीणों का संपूर्ण जीवन आश्रित था और उन्हें अपने लिए नया आसरा खोजना है। वहां पर बसने वाले लोगों को जबरन विस्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है। लंबे समय तक बांध बनाने का कार्य चलने के कारण इंजीनियर, ओवरसीयर्स, बाबू और मजदूरों को वहां बसाया जाना है। तात्पर्य यह है कि एक बसी-बसायी संस्कृति को उजाड़कर उसे पूरी तरह समाप्त करने की पुरजोर साजिश रची जा रही है। इससे आदिवासी किसान पूरी तरह आहत हैं - "कैसा फरेब है यह? कितना बड़ा झूठ है? कैसी खुशहाली है यह? कैसा बांध है यह? नरबलि लेगा यह? पशुबलि लेगा यह? धरती-माता की बलि लेगा? धोखा है यह जो हमें मिलेगा वह औरों को भी मिलेगा। वह फिर किसी को खुशहाल नहीं करेगा। बाघ को आदमी का मांस चखा दो तो वह आदमखोर हो जाता है। नरभक्षी हो जाता है वह और बांध को.....?"[5]।

जनजातियां विश्व के लगभग सभी भागों में पाई जाती हैं। भारत,अफ्रीका के बाद सर्वाधिक जनजातियों वाला देश है। भारत में भी भील, करात, भारव, गरसिया, सहरिया, डामोर,गोड़, संथाल, मीणा , मुंडा आदि जनजातियां विभिन्न

राज्यों के जंगली एवं पहाड़ी क्षेत्रों में अपना जीवन-यापन करती हैं। आजादी के बाद देश के राजनेताओं एवं उच्च वर्ग के लोगों ने पश्चिमीकरण एवं आधुनिकता का चोला पहनकर राष्ट्र में विभिन्न विकास-योजनाओं का निर्माण करके उन्हें आदिवासियों/जनजातियों के मूल निवास-स्थान पहाड़ी एवं जंगली क्षेत्रों में विभाजित किया। आदिवासियों के विस्थापन की कहानी प्राकृतिक विस्थापन से भी अधिक खतरनाक साबित हुई। क्योंकि प्राकृतिक आपदा के बाद उस स्थान पर वापस विकास किया जा सकता है लेकिन विकास के नाम पर आदिवासियों को उनकी परंपरा ,संस्कृति, मूल निवास-स्थान से खदेड़कर समाज के हाशिए पर डाल दिया जाता है। विस्थापन की समस्या के साथ-साथ आदिवासियों की परंपरा, संस्कृति, भाषा, वेशभूषा, राष्ट्रीय आंदोलन में उनका योगदान आदि विशेषताओं को समकालीन हिंदी के गैर आदिवासी एवं आदिवासी रचनाकारों ने अपने कथा-साहित्य के लिए प्रमुख विषय वस्तु के रूप में चित्रित करके समाज की मुख्यधारा में आदिवासियों की अस्मिता को स्थापित करने का प्रयास किया है।

संजीव के उपन्यास 'पांव तले दूब' के केंद्र में, झारखंड के पंचपहाड़ के आदिवासियों के अस्तित्व,अस्मिता के इर्द-गिर्द विकसित और गुम्फित हुई एक बेबाक कथा है। इस उपन्यास में औद्योगिकीकरण के कारण विस्थापन की समस्या है। लेखक ने आदिवासी समाज के अंतर्विरोध, जीवन-संघर्ष और विस्थापन की गहरी समस्या को उठाया है। इसी तरह गद्य साहित्य हिंसा/सांप्रदायिकता और विस्थापन पर भी विशेष दृष्टि रखता है। इसके अंतर्गत कश्मीर और बंगाल के विस्थापितों, श्रीलंका से विस्थापित तमिलों ,चकमा शरणार्थियों आदि पर साहित्य हिंदी में उपलब्ध है।

जम्मू-कश्मीर का समकालीन सृजन जो मुख्यत: विस्थापन को लेकर है, वह कश्मीरी भाषा के अलावा डोंगरी, हिंदी ,पंजाबी, उर्दू ,अंग्रेजी एवं गोजरी भाषा में हो रहा है। इन रचनाओं में विस्थापन की स्थिति के अनुभव कई प्रकार से हैं। इसमें खौफ, आशंका, पीड़ा ,अविश्वास, बदहवास से लेकर अनेक आशा-विश्वास तथा नवनिर्माण के स्वप्न तक फैले हैं। कश्मीरी विस्थापितों का प्रश्न जितना धर्म से जुड़ा है उतना ही उनकी जमीन से भी जुड़ा है, जहां से उन्हें जबरन हटाया गया है। 'दर्दपुर' क्षमा कौल का एक विख्यात उपन्यास है, जिसमें उन्होंने कश्मीरी पंडितों के दर्द को एक सुलगते हुए गाथा के रूप में उभारा है - "बस, मैं वहां तीन दिनों में ही घुट गई। सिर्फ तीन दिनों में... मैं कल वापस जा रही हूँ। यह सोच-सोचकर अपने अंदर ही लोट-पोट जा रही हूँ। सोचती हूं, जम्मू पहुंच कर उन गलियों को चूमूँ। जहां आत्मसम्मान हिलोरे मार रहा है। जहां जीवन के समुद्र का ज्वार चढ़ा है। मुझे तो यहां से जम्मू को देखने की दृष्टि मिल गयी है। भले ही यहां डल झील है, उल्लर है, बागात है, हरमुकुट है,जोजीला के विराट द्वार हैं और रहस्यपूर्ण चीड़ है और चिनार हैं। मगर, ज़िन्दगी यहां से भगा चुकी है। मैं जम्मू की धरती को प्रणाम करती हूँ। लोट-पोट जाउंगी उस मिट्टी पर चूम लुंगी उस मिट्टी को।परिक्रमा करूँगी उसकी।मैं उसके गीत लिखूंगी। मैं उसे धन्यवाद दूंगी।"[6]

समग्र रूप से देखने पर कश्मीरी विस्थापित साहित्य में अपनी जड़ों से उखाड़े जाने की पीड़ा, नास्टेल्जिया, अस्मिता के विलोपन और धरोहर को बचाये रखने की चिंता, मातृभूमि पहुंचने की ललक के साथ ही कई और बातें भी सम्मिलित हैं। इस विषय पर और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है,क्योंकि अपनी जमीन के लिए शरणार्थी शिविर में रह रही अगली पीढ़ी भी संघर्ष कर रही है। यह उनके संघर्ष की गाथा होगी। बेहतर रोजगार और जीवन शैली के लिए अपने घर -परिवार, निवास -स्थान को छोड़कर दूसरे शहर में दर -दर भटकते युवाओं की कहानियां, जो एक अनजाने शहर

की भागदौड़ भरी जिंदगी में खोए तो रहते हैं लेकिन वहां की आबो-हवा,भाषा-बोली, तीज-त्योहार-पर्व आदि में अपने घर को तलाशते रहते हैं; उसमें अपना निजत्व खोजते भटकते रहते हैं। भारत से दूर रहकर वापस आने पर प्रवासी भारतीय अजनबीपन से गुजर जाते हैं। अपने प्रवास के बाद देश व घर के वातावरण में आये बदलावों से समझौता न कर पाने के कारण वे लोग अपने ही देश में स्वयं को अजनबी महसूस करते हैं। रवींद्र कालिया अपने उपन्यास ए. बी. सी. डी. (अमेरिकन बोर्न कन्फ्यूज्ड देसी) के पात्र हरदयाल के माध्यम से यह समझाते हैं कि "आदमी जहां रहता है वहीं उसकी जड़ें विस्तार पाने लगती हैं पंजाब जाता हूँ तो वहां अपने को अजनबी पाता हूँ। जो पंजाब मैं छोड़कर आया था वहां जाकर उसे ही ढूंढता रहता हूँ। अब न वह पंजाब है और न वे लोग-सब मरमुर गए। लोग अपनी जड़ों की बात करते हैं। मुझे अपनी जड़ों के बारे में सोचकर दहशत होती है। वहां की स्मृतियाँ यहां से सुहावनी लगती हैं, वहां से डरावनी।"[7] विदेशों में रहने के लिए अपने रवैया को बदलने के लिए भारतीय प्रवासी अभिशप्त होते हैं क्योंकि भारतीय अपने नैतिक मूल्यों को विदेशी समाज पर थोप नहीं सकते। भारतीय प्रवासी हमेशा विदेश और स्वदेश के बीच उलझे रहते हैं।

"कई बार सोचता हूँ कि कुएं में मेढक की तरह पड़े रहे तो पागल हो जाएंगे। यहां के तौर-तरीके रास नहीं आते। हम लोग न वहां के रहे न यहां के।"[8]

इन कहानियों में रोजगार के लिए अपनी मातृभूमि को छोड़कर विस्थापित हुए युवा के हृदय की लहरियां भविष्य से टकराकर अतीत और बचपन की उन यादों में खो जाती-सी प्रतीत होती हैं, जहां से लौटना उनके लिए अत्यंत पीड़ादायक तो होता है किंतु आजीविका का संघर्ष उन्हें पुन: यथार्थ में घसीट लाता है। जब तक देश के आम नागरिकों को साथ लेकर योजनाएं नहीं बनायी जाएंगी तब तक विस्थापन की भीषण छाया उनके जीवन पर ग्रहण की तरह हमेशा बनी रहेगी। योजनाओं के क्रियान्वयन के बहुत पहले से ही उससे प्रभावित होने वाले नागरिकों के पुनर्स्थापन तथा पुनर्वास के बारे में सोचना प्रत्येक लोकतंत्र का कर्तव्य है। विस्थापित हो रही जनता के लिए पर्याप्त पुनर्वास की व्यवस्था करना नामुमकिन है, लेकिन विस्थापितों के लिए आवश्यक पुनर्स्थापित योजनाएं बनाना सरकार की जिम्मेदारी है। नागरिकों के आंसुओं के ऊपर बनाई गयी योजनाओं से अधिक महत्त्व उनकी संतुष्टि पर आधारित योजनाओं का निर्माण है, भले ही वह मात्रा में अत्यल्प हो।

संदर्भ -ग्रंथ -:

1) यशपाल; झूठा सच; लोकभारती प्रकाशन ;इलाहाबाद, 2019 ; पृ.539

2) द्रोणवीर कोहली; वाह कैम्प; किताबघर; दिल्ली, 2001; पृ. 203

3) कमलेश्वर; कितने पाकिस्तान; राजकमल प्रकाशन; दिल्ली, 2016; पृ. 110

4) मानव कौल; प्रेम कबूतर; वेस्टलैंड प्रकाशन

5) वीरेंद्र जैन; डूब; वाणी प्रकाशन; दिल्ली, 1991; पृ.79

6) क्षमा कौल; दर्दपुर; भारतीय ज्ञानपीठ; दिल्ली, 2009; पृ।97

7) रवींद्र कालिया; ए. बी. सी. डी.; वाणी प्रकाशन; दिल्ली, 2013 ; पृ.77

8) रवींद्र कालिया : ए. बी. सी. डी.; वाणी प्रकाशन; दिल्ली, 2013 ; पृ.77